❍ Year : 2 ❍ Issue : 7 ❍ March 2018 ❍ ISSN : 2456-0898

GLOBAL THOUGHT

ग्लोबल थॉट

(MULTI DISCIPLINE MULTI LANGUAGE RESEARCH JOURNAL)

(An International Refereed Quarterly Research Journal)

(A Scholarly Peer Reviewed Journal)

Special Note :

Anti national thoughts are not acceptable.

Patron :

Prof. M.M. Agrawal

(Former Dean, Arts Faculty & H.O.D. Sanskrit, University of Delhi, Delhi)

Prof. D.S. Chauhan

(Former H.O.D. Sanskrit, Magadh University, Bodhgaya, Bihar)

स्वामी/मुद्रक/प्रकाशक रूपेश कुमार चौहान द्वारा 47, ए-3 ब्लॉक, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, (नजदीक संकट मोचन मंदिर), पी.एस. नजफगढ़, दिल्ली से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4 ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली में मुद्रित।

सम्पादक-रूपेश कुमार चौहान

Ph. 09555222747, 9267944100, 9555666907

अनुक्रमणिका

Editorial ---------- 8

भारत में नौकरशाही का विकास 9
कुमार प्रशांत

रघुवीर सहाय की कविता में अभिव्यक्त राजनीतिक चेतना 12
डॉ. प्रमोद कुमार द्विवेदी

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में नारी-चेतना 16
डॉ. सुनीता खुराना

The Impact of Music on the positivity and well being of mankind ----------19
Dr. Neeta Mathur

युद्ध की विभीषिका और अपरिहार्यता के मध्य कवि दिनकर 21
डॉ. अनिल राय

पुष्टिमार्गीय पद-गान में रस एवं भावाभिव्यक्ति 26
डॉ. नीता माथुर

Al-Shahrastani's Perception of Hindu Religious Systems ----------28
Dr. Manisha S. Agnihotri

अलंकार शास्त्र का ऐतिहासिक विकास 33
डॉ. शंकर नाथ तिवारी

भारतीय पारम्परिक कलाएँ और वर्तमान स्त्री-स्वावलम्बन 40
डॉ. अनिल राय

Redefining the identity of Untouchables through the vision of Dr. B.R. Ambedkar ----45
Ruchika Singh

नेताजी : एक स्वाधीन आत्मा 48
डॉ. मीना शर्मा

वाल्मीकि रामायण में छलित योग 51
डॉ. अनीता शर्मा

Impact of Globalisation on Women in India ----------56
Dr. Vandana Tripathi / Mrs. Geetanjali Kumar

नाज़ी जर्मनी और महिला प्रश्न : इतिहास पलटने का प्रयास 61
डॉ. मृदुला झा

दलित साहित्य का धार्मिक-दर्शन 65
डॉ. अश्वनी कुमार

Rural Road Connectivity in India: A bold policy initiative towards improving the quality of life ----------70
Dr. Pooja Paswan

Honour Killings : A Study in the Culture of Inhumanity ----------80
Dr. Pratibha

हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में नागरी प्रचारिणी पत्रिका का योगदान (आरंभिक पाँच वर्षों के संदर्भ में) 86
डॉ. प्रमोद कुमार द्विवेदी

नरेश मेहता की काव्यदृष्टि और दूसरा सप्तक ... 90
डॉ. चित्रा सिंह

Sustainable Development of India: Challenges and the way forward ----------98
Kumar Prashant

प्रेमचंद के साहित्य में औद्योगिकीकरण 102
डॉ. कविता राजन

Tribal Identity And Movements In Santhal Pargana Region ---------- 109
Kumari Khusboo

त्यागपत्र और उसके अज्ञेय कृत अनुवाद का तुलनात्मक अध्ययन 113
डॉ. विकेश कुमार मीना

युद्ध की विभीषिका और अपरिहार्यता के मध्य कवि दिनकर

डॉ. अनिल राय

'सामधेनी' नामक काव्य-संग्रह में दिनकर की 'कलिंग-विजय' शीर्षक कविता प्रकाशित हुई थी जिसमें कलिंग को जीतने के पश्चात् सम्राट अशोक के हृदय में उत्पन्न शोक और पश्चाताप को व्यापक अभिव्यक्ति मिली थी। युद्ध भूमि में हुए भयंकर रक्तपात को देखकर एवं स्त्रियों के करुण क्रंदन को सुनकर अशोक के अंतस् में ऐसा निर्वेद-भाव उत्पन्न हुआ था। इसी शोक और पश्चाताप के प्रदाह ने अशोक को बौद्ध धर्म की शरण में पहुँचाया। दिनकर ने इस कविता में लिखा-

टेक सिर ध्वज का लिये अवलम्ब,
आँख से झर-झर बहाते अम्बु।
भूल कर भूपाल का अहमित्व,
शीश पर वध का लिये दायित्व।[1]

पश्चाताप की आग में जलते हुए अशोक की आँखों से आँसुओं का प्रवाह थमता नहीं है और इसी के साथ उनके हृदय का भार भी विरल होता जाता है। उनके हृदय में क्रोध का स्थान करुणा ले लेती है एवं कोमल ज्ञान का प्रकाश फूट पड़ता है जो मानवता के अभ्युदय का पर्याय बनता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की आग की जलन अभी शांत नहीं हुई थी। यह जलन युद्ध के औचित्य पर चिंतन करने के लिये दिनकर को लगातार उत्प्रेरित कर रही थी। इसी चिंतन-प्रक्रिया में उनकी दृष्टि अतीत की ओर घूमती हुई द्वापर के एक कथा-प्रसंग पर जा टिकी थी। इस प्रसंग में आता है कि महाभारत के युद्ध के उपरांत भयंकर विनाशलीला को देखकर युधिष्ठिर का मन क्षोभ से भर जाता है। उनका अंतर्द्वंद्व एवं शोक किसी प्रकार भी कम नहीं होता। वे यह निश्चय नहीं कर पाते कि युद्ध करके उन्होंने पुण्य किया है अथवा पाप। अपनी इस शंका के निवारण हेतु वे शरशय्या पर लेटे भीष्म पितामह के समक्ष प्रस्तुत होते हैं और अपनी व्यथा-पीड़ा उनसे कहते हैं। कठिन द्वंद्व से बाहर निकलने एवं उससे मुक्ति की प्रार्थना करते हुए युधिष्ठिर यहाँ अपनी व्याकुलता को इस प्रकार व्यक्त करते हैं -

ध्वंसजन्य सुख? या कि साश्रु दुःख शान्तिजन्य?
ज्ञात नहीं, कौन बात नीति के विरुद्ध है;
जानता नहीं मैं कुरुक्षेत्र में खिला है पुण्य,
या महान पाप यहाँ फूटा बन युद्ध है।[2]

'कुरुक्षेत्र' के प्रतिपाद्य के विषय में दिनकर ने इसके 'निवेदन' में स्वयं लिखा है-''बात यों हुई कि पहले मुझे अशोक के निर्वेद ने आकर्षित किया और कलिंग-विजय नामक कविता लिखते-लिखते मुझे ऐसा लगा मानो युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ हो।"[3]

कलिंग-विजय में दिनकर ने बुद्ध का जयघोष तो किया था किंतु मनुष्य की सभी समस्याओं की जड़ जिसे वे युद्ध की समस्या मानते हैं, उसका समाधान उन्हें नहीं मिल सका था। हिंसा और करुणा का द्वंद्व कवि दिनकर के अंतर्मन को निरंतर मथता रहा। वे भी गांधी की तरह ही युद्ध को मानवता का प्रबल शत्रु मानते थे। 'कुरुक्षेत्र' के 'निवेदन' में अपने भीतर उठ रहे सवालों की उलझनों को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है-''युद्ध निन्दित और क्रूर कर्म है; किन्तु उसका दायित्व किस पर होना चाहिये? उस पर, जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमंत्रण देता है? या उस पर, जो जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिये आतुर है? पाण्डवों को निर्वासित करके एक प्रकार की शांति की रचना तो दुर्योधन ने भी की थी; तो क्या युधिष्ठिर महाराज को इस शांति को भंग नहीं करना चाहिये

था?.. ये ही कुछ मोटी बातें हैं जिन पर सोचते-सोचते यह काव्य पूरा हो गया।"[4]

वस्तुतः दिनकर ने महाभारत-युद्ध के पश्चात् उत्पन्न युधिष्ठिर के द्वंद्व एवं व्यथा को कुरुक्षेत्र का आधार-विषय बनाया है। यहाँ भीष्म ने युधिष्ठिर की शंका और शोक के निवारण हेतु जो उपदेश दिये हैं उनमें अनेक आधुनिक समस्याएँ और उनके समाधान की ओर संकेत भी जगह-जगह व्यक्त हुए हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ कवि ने आधुनिक समस्याओं को स्वर देते हुए भी भीष्म और युधिष्ठिर के मुख से ऐसी कोई बात नहीं कहलवायी है जो द्वापर-युग के लिये अस्वाभाविक लगे। उन्होंने 'कुरुक्षेत्र' के 'निवेदन' में लिखा है-''मैंने सर्वत्र ही इस बात का ध्यान रखा है कि भीष्म अथवा युधिष्ठिर के मुख से कोई कोई ऐसी बात न निकल जाए जो द्वापर के लिये सर्वथा अस्वाभाविक हो। हाँ, इतनी स्वतंत्रता अवश्य दी गई है कि जहाँ भीष्म किसी ऐसी बात का विचार कर रहे हों जो हमारे युग के अनुकूल पड़ती हो तो उसका वर्णन नए ढंग और विशद रूप से कर दिया जाए। कहीं-कहीं इस अनुमान पर भी काम लिया गया है कि उसी प्रश्न से मिलते-जुलते किसी अन्य विषय पर भीष्म पितामह का क्या उत्तर हो सकता था।"[5]

दिनकर हिन्दी साहित्य के संभवतः पहले ऐसे कवि हैं जिन्होंने युद्ध को अपने एक काव्य का केंद्रीय विषय बनाया। 'कुरुक्षेत्र' में उन्होंने युद्ध की विभीषिका से आहत मानवीय मूल्यों के आलोक में युद्ध के विभिन्न पक्षों पर गहनता से विचार किया है। युद्ध की तुलना तूफान से करते हुए दिनकर ने उसे विश्व की एक अनिवार्य विकृति माना है। कवि का मानना है कि जब तक संसार में अनीति, अधर्म, उत्पीड़न और शोषण होता रहेगा तब तक युद्ध भी निरंतर चलते रहेंगे। हिंसात्मक युद्ध तब तक अनिवार्य रहेगा जब तक विश्व में सद्भावना, शांति और समता की स्थापना नहीं हो जाती। दिनकर की दृष्टि में यह एक प्राकृतिक प्रक्रिया है-

यह प्रभंजन शस्त्र है उसका नहीं;
किंतु, है आवेगमय विस्फोट उसके प्राण का,
जो जमा होता प्रचण्ड निदाघ से,
फूटना जिसका सहज अनिवार्य है।[6]

कवि का मानना है कि मानव-समाज में व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर पर अनेक प्रकार की विकृत प्रवृत्तियों की चिंगारियाँ अन्दर ही अन्दर सुलगती रहती हैं। ये ही एक दिन युद्ध के ज्वालामुखी का विस्फोट कराती हैं। जब तक संसार में ये विकृतियाँ पनपती रहेंगी तब तक युद्ध के ज्वालामुखी भी फूटते रहेंगे-

युद्ध को तुम निंद्य कहते हो,
मगर, जब तलक हैं उठ रहीं चिंगारियाँ;
भिन्न स्वार्थों के कुलिश संघर्ष की,
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।[7]

युधिष्ठिर की युद्ध विषयक शंका और व्यथा को दूर करने के लिये भीष्म कहते हैं कि युद्ध का दायित्व वस्तुतः किसी पर नहीं होता है। इसका दायित्व यदि किसी पर होता है तो उस पर, जो किसी के न्यायपूर्ण अधिकारों का अपहरण करता है। अतः अपने अधिकारों की रक्षा के लिये संघर्ष करना कोई पाप नहीं है। इसके विपरीत पाप है उस अनाचार को सहते जाना-

चुराता न्याय जो, रण को बुलाता भी वही है,
युधिष्ठिर! स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है।
नरक उनके लिये, जो पाप को स्वीकारते हैं,
न उनके हेतु जो रण में उसे ललकारते हैं।[8]

दिनकर उस युद्ध को धर्म-विरुद्ध मानते हैं जो दूसरों के अधिकारों को हड़पने के लिये कलुषित उद्देश्य से किया जाता है। उनकी दृष्टि में यह लोभ की लड़ाई सर्वथा पाप है-

सेना साजहीन है परस्व हरने की वृत्ति,
लोभ की लड़ाई क्षात्र-धर्म के विरुद्ध है।[9]

आत्मसम्मान की रक्षा के लिये, स्वत्व-प्राप्ति के लिये और अत्याचार का प्रतिशोध लेने के लिये किये जाने वाले युद्ध को दिनकर धर्मयुद्ध अथवा पुण्य से संपृक्त संघर्ष मानते हैं-

जानता हूँ किंतु, जीने के लिये चाहिये
अंगार जैसी वीरता,
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है,
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।[10]

कवि के अनुसार पाप तो तब होता है जब मनुष्य शक्ति के रहते भी मौन, तटस्थ और विरक्त होकर अन्याय-अत्याचार का सहन करता रहता है। कुरुक्षेत्र के भीष्म ने अन्यायियों-अत्याचारियों से बलपूर्वक अपने अधिकारों को वापस छीनने को मनुष्य का परम कर्त्तव्य बताया है। इसीलिये जब तक परस्व-हरण की वृत्ति का समूल नाश

नहीं होगा तब तक युद्ध का चलते रहना धर्म ही है। युद्ध को निमंत्रण देने वाला तो अन्यायी होता ही है किंतु धर्म, न्याय, सत्य अथवा नीति के मार्ग पर चलने वालों के समक्ष भी वह अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ खड़ी कर देता है। नीति के मार्ग पर चलते हुए भी व्यक्ति के समक्ष उस पर थोपे गए युद्ध की चुनौती स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं बचता। इस प्रकार शांति और अहिंसा के पुजारियों को भी युद्ध की आग में कूदना पड़ता है। दिनकर के चिन्तन पर पाश्चात्य विचारक बर्टेण्ड रसेल का भी व्यापक प्रभाव था। रसेल का मानना था कि समाज में कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ भी आती हैं जब शान्तिप्रिय व्यक्ति भी सत्ता एवं व्यवस्था के खिलाफ जंग छेड़ने को विवश हो जाता है। ऐसी अपरिहार्य लड़ाई कोई पाप नहीं है। दिनकर के अनुसार युद्ध एक अनिवार्य विकार है जिसका उत्तर युद्ध से ही दिया जा सकता है। स्मरण रहे कि युद्ध को दिनकर ने कहीं भी साध्य नहीं माना है। किंतु उन्होंने आपद्धर्म के रूप में उसे अवश्य स्वीकार किया है। उनके अनुसार जिस प्रकार भयंकर रोग का एकमात्र उपचार कटु-कसैली औषधि ही होती है उसी प्रकार युद्ध भी समाज के लिये एक रोग है जिसे कोई नहीं चाहता। किंतु इसके चंगुल में आने के बाद इसका निदान भी अनिवार्य हो जाता है। इस रोग से मुक्ति युद्ध द्वारा ही हो सकती है-

रुग्ण होना चाहता कोई नहीं,
रोग लेकिन आ गया जब पास हो,
तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या?
शमित होगा वह नहीं मिष्ठान्न से।[11]

'कुरुक्षेत्र' में भीष्म द्वारा युद्ध और हिंसा के समर्थन के कारण दिनकर पर युद्धवादी तथा हिंसावादी होने के आरोप भी लगे। सच तो यह है कि दिनकर ने युद्ध और हिंसा को जीवन के साध्य या अंतिम लक्ष्य के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया। उनकी दृष्टि में आपद्धर्म में युद्ध पाप-पुण्य तथा उचित-अनुचित की सीमाओं से परे हो जाता है। कोई भी कार्य स्वयं में पाप या पुण्य नहीं होता। तिलक के 'गीता-रहस्य' का प्रभाव भी 'कुरुक्षेत्र' पर खूब पड़ा है। कर्म की व्याख्या करते हुए तिलक ने 'गीता-रहस्य' में कहा है कि संसार में कोई भी कर्म अपने आप में पाप-पुण्य नहीं होता। पुण्य अथवा पाप की कसौटी उस कार्य के लक्ष्य या उद्देश्य से तय होती है। तिलक का यही संदेश यहाँ दिनकर भी देते हुए दिवाई देते हैं--

क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं,
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो,
.....
औ समर तो और भी अपवाद है,
चाहता कोई नहीं इसको, मगर,
जूझना पड़ता सभी को,
शत्रु जब आ गया हो द्वार पर ललकारता।[12]

स्वत्व, न्याय और धर्म की रक्षा के लिये जो युद्ध किया जाता है उसे पाप नहीं कहा जा सकता। अन्याय-अत्याचार का सामना त्याग और तप से नहीं किया जा सकता है। कवि के अनुसार ऐसा करना ही पाप है-

छीनता हो स्वत्व कोई और तू,
त्याग-तप से काम ले यह पाप है;
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।[13]

दिनकर तप, करुणा, दया, क्षमा, विनय, त्याग, आदि गुणों को व्यक्तिगत धर्म मानते हैं। समूह या समाज की रक्षा के लिये आवश्यकतानुसार इन्हें भूलना पड़ता है-

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी,
किंतु, उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप-त्याग को।[14]

त्याग, तप, करुणा आदि मनुष्य को देवत्व प्रदान करने वाले गुण हैं। युद्धक्षेत्र में देहबल के समक्ष आत्मबल लाचार हो जाता है-

कौन केवल आत्मबल से जूझकर,
जीत सकता देह का संग्राम है?
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा,
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।[15]

वस्तुतः शोषण, अत्याचार, अन्याय और अधर्म के चंगुल में पिसती भारतीय जनता की निराशा और व्यथा को देखकर व्यथित एवं द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से पीड़ित दिनकर के अंतर्मन में युद्ध की समस्या पर जो विचार अभिव्यक्त हुए हैं वे स्वयं में आधुनिक हिन्दी कविता की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दिनकर की कविता को छायावादी और प्रगतिवादी कविता के बीच की कड़ी मानते हैं। वे लिखते हैं-''दिनकर व्यक्तिवादी दृष्टि का प्रत्याख्यान लेकर साहित्य-मंच पर

आए। वे छायावादियों और प्रगतिवादियों के बीच की कड़ी हैं-कम छायावादी अधिक प्रगतिवादी। 'कुरुक्षेत्र' में उनकी सामाजिक चेतना की बहुमुखी अभिव्यक्ति हुई है। दिनकर अपने ढंग के अकेले हिंदी कवि हैं।''[16] द्वितीय विश्वयुद्ध की त्रासदी तथा भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के शोषण-अत्याचार से उत्पन्न परिस्थितियों से लगातार टकराते हुए दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' की रचना की है। कविता में विश्वयुद्ध की भयंकर विनाशलीला जहाँ कवि को युद्ध से विरत करती है वहीं अंग्रेजी साम्राज्य के चंगुल में फँसी जनता को मुक्त कराने के लिये उन्हें युद्ध अनिवार्य जान पड़ता है। विचार के इन्हीं दो महत्त्वपूर्ण बिंदुओं के बीच ऊहापोह की स्थिति में कुरुक्षेत्र की रचना संपन्न हुई है।

कुरुक्षेत्र में दिनकर ने युद्ध और शान्ति दोनों पर ही अपना गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया है। इस प्रक्रिया में कई स्थलों पर वे गांधीवाद से पूरी तरह प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। ध्यान देने वाली बात यह है कि कविता में जब युधिष्ठिर के संवाद सामने आते हैं तो दिनकर गांधी के साथ खड़े जान पड़ते हैं और जैसे ही भीष्म से हमारा सामना होता है कवि अहिंसावाद के प्रतिपक्ष में खड़ा दिखाई देता है। अहिंसा-नीति में दिनकर की आस्था कम नहीं है। किंतु उक्त परिस्थितियों में गांधी का समूचा अहिंसा-दर्शन कवि की दृष्टि में बेबसी और लाचारी के सिवा कुछ भी नहीं जान पड़ता। शक्तिहीन के लिये क्षमा गुण नहीं दोष बन जाती है। जो शत्रु को हरा नहीं सकता वह क्षमा के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है? इसीलिये यहाँ दिनकर गांधी का समर्थन न कर तिलक का समर्थन करते दिखाई पड़ते हैं। जिन्होंने कहा था 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'। 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर के विचार इस नारे की अगली कड़ी बनकर उभरते हैं। उनके भीतर इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि अपने छिने हुए अधिकारों की पुनः प्राप्ति के लिये युद्ध तो करना ही होगा। वे निश्चय करते हैं कि यदि कोई हमारी स्वतंत्रता को हमसे छीन लेगा तो हम उसे पुनः वापस लेने के लिये प्रतिबद्ध हैं, चाहे इसके लिये कितना भी बड़ा युद्ध करना पड़े। इस उद्देश्य से लड़ा गया युद्ध पाप नहीं बल्कि धर्मयुद्ध होगा। देश की तत्कालीन परिस्थितियों से आन्दोलित होकर दिनकर ने साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध हथियार उठाने और समाज को अन्याय-अत्याचार से मुक्त कराने का कड़ा संदेश दिया है और यही 'कुरुक्षेत्र' का मूल कथ्य भी है-

न्यायोचित अधिकार मांगने से न मिलें तो लड़ के,
तेजस्वी छीनते समर को, जीत, या कि खुद मर के।[17]

'कुरुक्षेत्र' में हम देखते हैं कि युद्ध के समर्थक दिनकर जिस प्रकार युद्ध की अनिवार्यता पर जोर देते हैं उसी प्रकार चिंतन की प्रक्रिया में वे इसके समाधान पर भी विचार करते हैं। काव्य में भीष्म द्वारा अनेक तर्कों के माध्यम से युद्ध को अनिवार्य सिद्ध करने के बाद भी युधिष्ठिर के मन में युद्ध के प्रति जो घृणा घर कर गई है वह अंत तक यथावत् ही रह जाती है। यह प्रसंग दिनकर के समक्ष अन्य विकल्पों की उपलब्धता की ओर भी संकेत करता है। 'कुरुक्षेत्र' का पूरा 'षष्ठ सर्ग' कवि के उन्हीं विचारों की अभिव्यक्ति है जिनमें वह युद्ध के विरुद्ध प्रेम, दया, करुणा और धर्म की संस्थापना को महत्त्व देता है। 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर ने यह भी संकेत किया है कि परिस्थितियाँ युद्ध को चाहे कितना भी अपरिहार्य बना दें एक बार यदि युद्ध छिड़ गया तो नैतिक-अनैतिक सिद्धांतों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। योद्धा का एक ही लक्ष्य रह जाता है शत्रु को येन-केन प्रकारेण पराजित करना। सम्भवतः युद्ध की इसी त्रासदी को देखकर गांधी ने कहा था कि युद्ध समूचे विश्व की शान्ति के लिये सबसे बड़ा खतरा है। युद्धोपरांत हुए महाविनाश को देखकर अशोक की भाँति 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर भी आत्मग्लानि से भर जाते हैं और उन्हें कहना पड़ता है-

जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का,
तनबल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता।
तप से, सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन को,
जीत नई नींव इतिहास की मैं धरता।
और कहीं बज्र गलता न मेरी आह से जो,
मेरे तप से न सुयोधन सुधरता।
तो भी हाय यह रक्तपात नहीं करता मैं,
भाइयों के संग कहीं भीख माँग मरता।[18]

युद्ध की समस्या के समाधान के रूप में शांति और प्रेम की भावनाओं के साथ-साथ दिनकर समाज में साम्यवाद की प्रतिष्ठा पर भी जोर देते हैं। किंतु कवि का यह साम्यवाद मार्क्सवादी साम्यवाद नहीं है। धर्मराज को पृथ्वी की प्रारंभिक कथा सुनाते हुए भीष्म यहाँ उस जनतांत्रिक व्यवस्था का परिचय देते हैं जिसमें कभी राजा-प्रजा और ऊँच-नीच का भेद नहीं था। सभी मनुष्य परस्पर सुख-दुख

के साथी थे-

उच्च-नीच का भेद नहीं था,
जन-जन में समता थी।
था कुटुम्ब सा जन-समाज,
सब पर सबकी ममता थी।[19]

कालांतर में धीरे-धीरे राजा का अस्तित्व आया और इसी के साथ गुलामी, अत्याचार और शोषण को बढ़ाने वाली संस्थाएँ भी समाज में विकसित होती गई। दिनकर का मानना है कि इन विषमताओं को दूर कर समतामूलक समाज की पुनः स्थापना करनी होगी। जिससे एक बार फिर हम अपनी प्राचीन व्यवस्था को प्राप्त कर मानवता को सुखी बना सकें।

1962 के भारत-चीन युद्ध के उपरान्त दिनकर ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' की रचना की। युद्ध को लेकर जिस असमंजस में दिनकर 'कुरुक्षेत्र' में देखे गए वह 'परशुराम की प्रतीक्षा' में नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में उनके भीतर युद्धकेंद्रित द्वन्द्व का कुहासा काफी छँट चुका था। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में वे इस बात पर और अधिक जोर देते हुए दिखाई पड़ते हैं कि अन्याय और अनीति का प्रतिरोध किये बिना अपने स्वत्व की रक्षा नहीं की जा सकती। आत्मरक्षा एवं स्वत्व-प्राप्ति के लिये पाप-पुण्य की चिंता किये बिना हथियार उठाना ही मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है-

छोड़ो मत अपनी आन, सीस कट जाए,
मत झुको अनय पर भले व्योम फट जाए।
दो बार नहीं यमराज कण्ठ धरता है,
मरता है जो, एक ही बार मरता है।
तुम स्वयं मरण के मुख पर चरण धरो रे।
जीना हो तो मरने से नहीं डरो रे।[20]

दिनकर ने देश को सैन्य दृष्टि से पूर्णतः शक्तिसंपन्न होने का स्वप्न देखा था। इस परमाणु युग में शक्तिहीन और अक्षम देश के शांति का उपदेश भला कौन सुनने वाला है-

स्वर में पावक यदि नहीं, वृथा वन्दन है,
वीरता नहीं तो सभी विनय क्रन्दन हैं।[21]

दिनकर द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका और विनाशलीला के साक्षी थे। युग कोई भी हो युद्ध का भय मानवता के समक्ष बराबर बना रहता है। आज की इक्कीसवीं सदी भी इस भय से मुक्त नहीं है। दिनकर में उन भारतीय सनातन मूल्यों के प्रति गहन आस्था थी। जिनमें अहिंसा को परम धर्म माना गया है। किंतु, जब युद्ध चौखट पर आकर दस्तक दे रहा हो और हथियार उठाने के अतिरिक्त कोई विकल्प न बचा हो तब अध्यात्म और अहिंसा की आड़ में शान्ति की पहल करने को वे कायरता मानते हैं। दिनकर की दृष्टि में तब अहिंसावादी के लिये भी युद्धगीत गाना उसका परम धर्म हो जाता है।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग,
श्यामलाल कॉलेज (सांध्य),
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई-मेल : raidranil14@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. नंदकिशोर नवल (संपा.), दिनकर रचनावली-1, लोकभारती प्रकाशन, 2011, पृष्ठ-149 ।
2. नंदकिशोर नवल (संपा.), दिनकर रचनावली-5 , लोकभारती प्रकाशन, 2011, पृष्ठ-65 ।
3. वही, पृष्ठ-55 ।
4. वही, पृष्ठ-55-56 ।
5. वही, पृष्ठ-56 ।
6. वही, पृष्ठ-67 ।
7. वही, पृष्ठ-70 ।
8. वही, पृष्ठ-86 ।
9. वही, पृष्ठ-81 ।
10. वही, पृष्ठ-69-70 ।
11. वही, पृष्ठ-69 ।
12. वही, पृष्ठ-69 ।
13. वही, पृष्ठ-70 ।
14. वही, पृष्ठ-71 ।
15. वही, पृष्ठ-72 ।
16. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, 1990, पृष्ठ-251 ।
17. नंदकिशोर नवल (संपा.), दिनकर रचनावली-5, लोकभारती प्रकाशन, 2011, पृष्ठ-77 ।
18. वही, पृष्ठ-64 ।
19. वही, पृष्ठ-141 ।
20. नंदकिशोर नवल (संपा.), दिनकर रचनावली-1, लोकभारती प्रकाशन, 2011, पृष्ठ-367।
21. वही, पृष्ठ-370 ।